भारतीय योग परम्परा में जैन आचार्यों के योगदान का मूल्यांकन

(योग का प्रास्थानिक मूल्य)

—डॉ. ब्रह्ममित्र अवस्थी
निदेशक
—स्वामी केशवानन्द योग संस्थान
८/३ रूपनगर, दिल्ली ११०००७

योगविद्या एक व्यावहारिक विद्या है, साधना की विद्या है, जिसके द्वारा अपने में अन्तर्निहित अन्नमय, मनोमय, प्राणमय और आनन्दमय कोशों में अनादि काल से अन्तर्निहित शक्तियों को जागृत करके जीवन की अल्पताओं को और उसके कारण प्राप्त पीड़ाओं को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है और उसके फलस्वरूप आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप मोक्ष को, कैवल्यभाव को, प्राप्त किया जाता है। इस साधना में त्रिविध ताप की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति जहाँ साधना रूपी यात्रा का चरम लक्ष्य है, अन्तिम पड़ाव है, वहीं शारीरिक और मानसिक निर्बलताओं की निवृत्ति, व्याधि एवं जरा की निवृत्ति आदि प्रारम्भिक और मध्यवर्ती पड़ाव है।

जिस प्रकार किसी मन्दिर अथवा भवन के मध्य में बैठे हुए दस-पन्द्रह-बीस या सौ-दो-सौ—चार सौ अथवा हजार व्यक्ति क्रमशः अपने स्थान से उठकर द्वार की लघु यात्रा के लिए अथवा किसी अन्य मन्दिर भवन अथवा तीर्थ नदी पर्वत आदि की दीर्घ यात्रा के लिए प्रस्तुत हों, तो प्रत्येक व्यक्ति के चरण चिन्ह पृथक्-पृथक् ही होंगे, भले ही प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी यात्रा किसी एक नियत स्थल पर खड़े होकर ही क्यों न प्रारम्भ की हो। चरण चिन्हों की यह भिन्नता आकस्मिक नहीं, बल्कि अनिवार्य है। इसके लिए, भिन्नता को दूर करने के लिए चाहे जितना प्रयत्न किया जाए भिन्नता अवश्य ही रहेगी। हां इस भिन्नता को दूर करने हेतु प्रयत्न करने पर स्खलन हो सकता है, गति तो मन्द होगी और चरण चिन्ह की भिन्नता की निवृत्ति के ही लक्ष्य बन जाने से मूल लक्ष्य के भी तिरोहित होने की सम्भावना हो सकती है। ठीक इसी प्रकार विविध तापों से सन्तप्त साधक की साधना यात्रा में भी लक्ष्य एक रहने पर भी साधना की विधि में, प्रक्रिया में कुछ न कुछ अन्तर का होना अत्यन्त स्वाभाविक ही है। साधक की शारीरिक और मानसिक स्थिति, उसकी तैयारी, बौद्धिक स्तर, पूर्वतन संस्कार, वातावरण आदि ऐसे अनेक हेतु हैं, जिनके कारण साधना की विधि में अन्तर हो सकता है कई बार उद्देश्य भेद अर्थात् चरम लक्ष्य में अन्तर भी साधना के मार्ग में कुछ या बहुत अन्तर ला सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन की पूर्णता के उद्देश्य से की जाने वाली साधना पद्धतियाँ अनेक हो सकती हैं, व्यक्ति आदि के भेद से अनन्त हो सकती हैं यदि यह कहा जाए तो अनुचित न होगा। और पदक्रम में अन्तर रहने पर भी सभी एक अभीष्ट पर निस्सन्देह पहुँचते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार साधना क्रम में अन्तर होते हुए भी यदि उसके लक्ष्य के रूप में चित्त की एकाग्रता केन्द्र में विद्यमान है, आध्यात्मिक लक्ष्य विद्यमान है, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का प्रयोजन विद्यमान है, तो उसे योग साधना कहा जाना चाहिए और योग साधना कहा भी जाता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान में उस साधना को, उस क्रिया विधि को भी 'योग' अथवा 'योगा' कहा जा रहा है जिसका कुछ सम्बन्ध पतंजलि के अष्टांग योग से है। आजकल दिल्ली, बम्बई, न्यूयार्क, लन्दन जैसे बड़े शहरों में शरीर को सुन्दर छरहरा बनाए रखने के लिए कुछ केन्द्र (व्यावसायिक केन्द्र) खुले मिलेंगे और उनके नाम आदि देखने को सहज ही मिल जाएंगे। इन केन्द्रों के साथ योग अथवा योगा शब्द जुड़ा हुआ है, और सामान्य जनता वहाँ की साधना विधि (क्रिया विधि) को योग (योगा) कहती भी है, किन्तु उन्हें हम योग की सीमा में रखना नहीं चाहेंगे। क्योंकि वे ऊपर दी गयी योग की मूल परिभाषा के अन्दर नहीं आते।

योग साधना की अनेक विधियाँ योगसूत्रकार पतञ्जलि के समय में भी प्रचलित थीं इसका संकेत हमें पतञ्जलि के योग सूत्र में ही मिलता है। उसके अनुसार वैराग्यपूर्वक चित्तवृत्तिनिरोध हेतु अभ्यास, अर्थ भावना पूर्वक प्रणव मन्त्र जपरूप ईश्वर प्रणिधान, प्राणों की प्रच्छर्दन एवं विधारण रूप विशिष्ट क्रिया प्राणायाम, इन्द्रियों के किसी विषय को आधार बनाकर वहाँ चित्त की पूर्ण स्थिरता का प्रयास, पूर्ण वैराग्य, अस्मिता मात्र में चित्त की स्थिरता का प्रयास, स्वप्न निद्रा अथवा ज्ञान को आश्रय बनाकर चित्त की स्थिरता का प्रयास अथवा किसी भी अपने अभिमत देव आदि का ध्यान भिन्न-भिन्न परम्पराओं में चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय के रूप में स्वीकृत रहे हैं।[1] उत्तर काल में भी साधना की पद्धतियों में यथावश्यक प्रयोग होते रहे हैं और उसके फलस्वरूप साधना क्रम में लक्ष्य और साधक की योग्यता के आधार पर कुछ परिवर्तन भी हुए हैं। हठयोग और नाथ सिद्धों की साधना पद्धति की प्रतिष्ठा अथवा प्रचलन इस सहज परिवर्तन के प्रमाण हैं।

इन परिवर्तनों के प्रसंग में यह ध्यान रखने वाला तथ्य है कि देश विशेष की सीमाएँ अथवा धर्म विशेष का इस पर कोई प्रभाव नहीं रहा है। इसीलिए भारतीय साधना पद्धति, नेपाली साधना पद्धति आदि शब्दों को अथवा जैन योग, बौद्ध योग ब्राह्मण या वैदिक योग आदि भेदबोधक शब्दों के प्रयोग को बहुत गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार के शब्दों के प्रयोगों का केवल इतना ही अर्थ है कि किसी क्षेत्र विशेष में अधिक प्रचलित साधना विधि, अथवा जैन और बौद्ध सम्प्रदाय के मध्य प्रतिष्ठित आचार्यों के द्वारा स्वयं स्वीकृत अथवा उनके द्वारा लिखित साहित्य में मुख्यतया वर्णित साधना विधि के कुछ विशिष्ट तत्व।

साधना के प्रसंग में इस तथ्य का उल्लेख मैं निःसंकोच करना चाहूँगा कि साधना से सम्बन्धित दार्शनिक चिन्तन के सन्दर्भ में जैन आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों में भले ही पतञ्जलि और व्यास के समान दार्शनिक गम्भीरता न हो, सिद्ध परम्परा के आचार्यों की तुलना में दृढ़ता और स्पष्टता कुछ कम हो किन्तु कष्टसहिष्णुतारूप तपश्चर्या के सम्बन्ध में जितनी दृढ़ता, नियमों में स्पष्टता जैन सन्तों के साधना क्रम में अथवा जैन आचार्यों द्वारा निर्धारित आचार नियमों में मिलती है, अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

जैन आचार्यों में मुख्यतः हेमचन्द्र एवं हरिभद्र सूरि इन दो आचार्यों ने योगशास्त्र के सम्बन्ध में अपनी लेखनी चलाई है। इनकी रचनाओं में हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र एवं हरिभद्रसूरिकृत योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक और योगविंशिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें से अन्तिम दो अर्थात् हरिभद्रसूरिकृत योगशतक और योगविंशिका अर्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मागधी प्राकृत में हैं शेष तीन ग्रन्थ अर्थात् हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र एवं हरिभद्रसूरिकृत योगदृष्टिसमुच्चय एवं योगबिन्दु संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं।

इन दोनों ही आचार्यों ने साधना पथ के रूप में महर्षि पतन्जलि द्वारा प्रवर्तित अष्टांग को ही प्रायः स्वीकार करते हुए उसका विवरण दिया है अथवा उसके प्रभाव की फल की चर्चा करके उस अष्टांग योग साधना की ओर जन सामान्य को प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया है। आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में अष्टांग योग को ही अविकल स्वीकार किया गया है, जबकि हरिभद्रसूरि के अर्धमागधी प्राकृत में निबद्ध योगशतक और योगविंशिका में साधना एवं तपश्चर्या के प्रसंग में सामान्य श्रावकों गृहस्थों अथवा नवदीक्षित मुनियों के लिए अत्यन्त संक्षेप में साधना सम्बन्धी नियमों का अथवा साधना विधि का निबन्धन हुआ है। योगबिन्दु में भी जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, संस्कृत भाषा में जैन साधकों के लिए अपेक्षित तपश्चर्या और साधना के पथ का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत हुआ है। हरिभद्र सूरि का योगविषयक प्रधान ग्रन्थ योगदृष्टिसमुच्चय है। यहाँ भी जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही संकेत मिल जाता है, योग साधना के पथ का नहीं बल्कि उसकी पृष्ठभूमि में आधार के रूप में विद्यमान योग दृष्टियों का वर्णन हुआ है। साथ ही योग साधना की चार स्थितियों का भी अत्यन्त प्रशस्त विवरण किया गया है।

साधना की प्रथम अवस्था वह होती है जब साधक शास्त्रों अथवा उससे सम्बद्ध कुछ ग्रन्थों को पढ़कर अथवा विद्वान गुरुजनों अथवा आचार्यों, मुनियों के मुख से योग साधना की महिमा को जानकर उसके लिए (योग साधना के लिए) संकल्प लेता है, उसके अनुसार (आचरण के लिए) व्यवहार के लिए प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्त भी होता है किन्तु मध्य-मध्य में प्रमाद असंलग्नता नहीं रह पाती, कभी-कभी साधना में विघ्न हो जाता है, साधना बाधित हो जाती है। हरिभद्र सूरि ने साधक की इस अवस्था को इच्छा योग के नाम दिया है।[2]

साधना के प्रसंग में साधक की द्वितीय अवस्था वह होती है, कि वह साधना में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त ही नहीं होता बल्कि स्खलन से, विचलन से, सुरक्षित रहता है, उसका समस्त व्यवहार, उसका समस्त आचार, उसकी समस्त साधना शास्त्रों के अनुकूल, गुरुजनों द्वारा प्रदर्शित मार्ग के अनुकूल चलती रहती है। साधक की इस अवस्था का नाम शास्त्रयोग है। इस अवस्था में प्रमाद का पूर्ण अभाव रहता है।[3] साधना की तृतीय अवस्था में साधक सभी प्रकार की विघ्न बाधाओं से ही पूर्णतः सुरक्षित नहीं होता, बल्कि वह सिद्धावस्था के निकट पहुँच जाता है। उसे धर्म का, आत्मतत्व का साक्षात्कार हो चुका होता है। शास्त्र प्रतिपादित रहस्य उसे आत्मसात् हो चुके होते हैं, प्रातिभ ज्ञान, जिसे पतञ्जलि के योग सूत्र में विवेकख्याति कहा गया है,[4] उसे प्रकट हो चुका होता है, यह प्रातिभज्ञान तत्व ज्ञान कहा जा सकता है, जो निश्चय ही श्रुत ज्ञान अर्थात् विविध शास्त्रों में वर्णित विषयों के ज्ञान से और अनुमान आदि प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान से कहीं उत्कृष्ट होता है।[5] इस प्रकार वह सर्ववश्यी होता है, साथ ही उसमें अनन्त सामर्थ्य भी होता है, जिसके फलस्वरूप उसमें किसी प्रकार के प्रमाद की सम्भावना नहीं रहती। हरिभद्र सूरि ने इस तृतीय अवस्था का वर्णन करके इसे सामर्थ्य योग संज्ञा प्रदान की है।

योग-साधना की सर्वोच्च अवस्था वह है अब न केवल योगी का ग्रन्थि भेदन हो चुका रहता है बल्कि उससे अहंता ममता आदि समस्त भावों का उपशम हो गया है। उसमें न राग है न द्वेष, न कर्तृत्व की भावना हैं न फल की कामना, उसकी समस्त आसक्तियाँ पूर्णतया विलीन हो चुकी हैं समस्त संकल्पों का विलय हो चुका है। और उसने सर्व संन्यासमयता की स्थिति प्राप्त कर ली है, इस प्रकार वह जीवन्मुक्त हो चुका है। यह अवस्था साधना की पूर्णावस्था है, मोक्ष की अवस्था है अतः इसे साधना की अवस्था कहने के स्थान पर सिद्धावस्था कहना अधिक उचित है। योग की इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्णावस्था का आचार्य हरिभद्रसूरि ने अयोग नाम दिया है।[6] अयोग का अर्थ है सर्वतोभावेन निर्लिप्तता की स्थिति, जिसे श्रीमद्भगवद् गीता में स्थितप्रज्ञता की स्थिति कहा गया है—

> दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
> वीतरागभय क्रोधः स्थितधीः मुनिरुच्यते॥
>
> यः सर्वत्रानभिस्नेहः तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
> नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।[7]

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग की उपर्युक्त अवस्थाओं का वर्णन साधना की स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए आत्मपरीक्षा के उद्देश्य से किया है जिससे साधना के मार्ग में साधक अपनी स्थिति की पूर्ण जानकारी रखते हुए देश और काल को ध्यान में रखकर अपनी साधना को और सुदृढ़ कर सके, गति दे सके। साथ ही उसके मार्गदर्शक गुरु भी उसकी अवस्था का मूल्यांकन करते हुए उसे अपेक्षित संरक्षण और मार्ग दर्शन प्रदान कर सकें। इस दृष्टि से इन अवस्थाओं का वर्णन अत्यन्त महत्वपूर्ण तो है ही, पतञ्जलि के सूत्रों में अथवा उनके भाष्य अथवा वृत्तियों में अथवा सिद्ध सम्प्रदाय के आचार्य गोरक्षनाथ आदि के योग बीज, योग शिखा, अमनस्क योग, योग कुण्डली आदि ग्रंथों में भी इनकी चर्चा न होने से अत्यन्त मौलिक भी है।

साधना के क्रम में साधक की मानसिक अवस्थाएँ भी साधना के मूल्यांकन के लिए, साधक की दृष्टि से साधना मार्ग की अनुकूलता प्रतिकूलता का मूल्यांकन करने की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखती हैं। स्मरणीय है कि साधना के क्रम में साधक की मनःस्थिति का सर्वाधिक महत्व है। मनःस्थिति ही साधक को साधना में प्रवृत्ति देती है और प्रवृत्त रखती है। पूर्ण चित्त-वृत्तिनिरोध रूप समाधि की स्थिति भी मन की ही अवस्था विशेष है। मनःस्थिति के कारण ही लोक की कोई घटना किसी व्यक्ति को सुख प्रदान करती है तो किसी को वही घटना दुःख और पीड़ा प्रदान करती है। पतंजलि के भाष्यकर व्यास द्वारा निर्दिष्ट क्षिप्त, मूढ़ विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएँ चित्त की ही अवस्थाएँ हैं जिनका सूक्ष्म विवेचन व्यास ने योग सूत्र भाष्य में किया है।[8]

ज्ञान अथवा तत्वबोध की अवस्था भी मन की अवस्था विशेष है। जिसे बौद्ध, जैन, वैशेषिक, न्याय और वेदान्त दर्शनों में मोक्ष का एकमात्र उपाय माना गया है। पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट साधना मार्ग में भी निर्विचारा सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में पहुँचने पर अध्यात्मप्रसाद और ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय की चर्चा की गई है। और स्वीकार किया गया है कि विवेक ख्याति अपर पर्याया ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार अन्य समस्त संस्कारों का प्रतिबन्धन करते हैं जिसके अनन्तर ही साधक निर्बीज समाधि पर पहुँचता है।[9] इस प्रकार मन की अवस्थाओं का विवरण योगसाधना के क्रम में स्वयं अपनी और अपने शिष्य अथवा सब्रह्मचारी साधक की साधना पथ पर स्थिति और साधना पथ के प्रभावी या अप्रभावी होने के मूल्यांकन के लिए न केवल अत्यन्त उपयोगी है बल्कि अनिवार्यतः अपेक्षित भी है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने मन की नव अवस्थाओं का वर्णन किया है। इन अवस्थाओं में ओघदृष्टि, जिसे मिथ्यादृष्टि भी कहते हैं, साधना से रहित अज्ञानी पुरुष की मानसिक अवस्था है। शेष मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा और परा आठ साधक की मानसिक अवस्थाएं हुआ करती हैं। इनमें प्रथम से अन्तिम तक क्रमशः उच्च उच्चतर और उच्चतम स्थिति में पहुँचे हुए साधकों की मन की अवस्थाएँ हैं।[10] इसीलिए इन्हें योगदृष्टियाँ कहा जाता है। साधकों के मन की ये विशिष्ट स्थितियाँ हरिभद्रसूरि के अनुसार यम नियम आदि का अभ्यास करने के फलस्वरूप खेद आदि उद्वेगों की निवृत्ति होने के अनन्तर प्राप्त होती हैं। जब तक चित्त में राग और द्वेष के वेग विद्यमान रहते हैं और जब तक मैत्री,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करुणा और मुदिता आदि वृत्तियों का उदय नहीं होता और चित्त का प्रसादन नहीं होता, तब तक साधक मन की इन स्थितियों को प्राप्त नहीं कर पाता।

हरिभद्र सूरि के अनुसार योग साधना में संलग्न साधक जब अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन यमों का निष्ठापूर्वक पालन करने लगता है, तब उसके मन में मैत्री भाव प्रतिष्ठित होता है, उसे मित्रा दृष्टि प्राप्त होती है।[11] सामान्य रूप से मैत्रीभाव अथवा मित्रा दृष्टि शब्द से ऐसा प्रतीत होता है, मानो यह मनोभाव प्रेम से समन्वित मन की स्थिति है, जो दृष्टि वैरभाव का त्याग करने से प्राप्त होती है। पतञ्जलि के अनुसार वैरभाव की निवृत्ति रूप फल की प्राप्ति अहिंसा नामक यम के सम्पूर्णतया पालन से भी हुआ करती है।[12] किन्तु यहां वस्तुतः मित्रा दृष्टि में देवों के प्रति श्रद्धा देव कार्यों के सम्पादन में रुचि, उनके हेतु कार्य सम्पादन के प्रसंग में खेद का अभाव अर्थात् देव कार्यों के सम्पादनार्थ अभूतपूर्व बल एवं साधना से सम्पन्न होना उन कार्यों में पूर्ण सफल होने का विश्वास अर्थात् क्रियाफलाश्रयत्व और साथ ही सफलता की स्थिति में उसके प्रति अन्य जनों के हृदय में साथ ही अन्य जनों के प्रति हृदय में निर्वैर भाव की प्रतिष्ठा की स्थिति सभी एक साथ सम्मिलित हैं। मन की इस स्थिति में तत्त्वज्ञान अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में ही रहता है।[13]इसके अतिरिक्त मित्रा दृष्टि का उदय हो जाने पर साधक के चित्त में केवल कुशलकर्म करने की भावना रहती है, अकुशल कर्मों की स्वतः निवृत्ति होने लगती है, उसमें कर्मफल के प्रति आसक्ति सामान्यतः नहीं रहती, सांसारिक प्रपंच के प्रति वैराग्य, दान कर्म में प्रवृत्ति, शास्त्र सम्मत चिन्तन एवं लेखन तथा स्वाध्याय आदि में सहज प्रवृत्ति आदि भावनाएँ एवं क्रियाएँ उनके जीवन की अंग बनने लगती हैं।[14]

साधना के क्रम में, हरिभद्र सूरि के अनुसार यमों और साथ-साथ नियमों का भी पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करने से मानसिक स्थिति का कुछ और उन्नयन होने पर हितकार्यों के सम्पादन में उद्वेग का अभाव, तात्विक जिज्ञासा एवं परम तत्त्व विषयक कथा में अविच्छिन्न प्रीति, योगिजनों के प्रति श्रद्धातिरेक एवं उनकी कृपा, उनके प्रति पूर्ण विश्वास की भावना, अकर्मों से निवृत्ति, द्वेषभाव का अभाव, भव भय से भी निवृत्ति मोक्ष की प्राप्ति। समस्त दुःखों की निवृत्ति की अवश्यम्भाविता का विश्वास आदि मनोभाव चित्त में स्थिर होने लगते हैं। मन की इस स्थिति को तारादृष्टि कहते हैं। पतञ्जलि के अनुसार नियमों की साधना के फलस्वरूप स्वयं अपने शरीर सहित दूसरों के शारीरिक संसर्ग के के प्रति घृणा पूर्ण अरुचि, बुद्धि और मन की पवित्रता, इन्द्रियजय, अतिशय तृप्ति, शरीर और इन्द्रियों में अतिशय सामर्थ्य, इष्टदेवों की कृपा, चित्त की पूर्ण एकाग्रता, एवं आत्मदर्शन की योग्यता आदि परिणाम साधक को परिलक्षित होते हैं। पतञ्जलि निर्दिष्ट इन फलों में शरीर एव इन्द्रियों में अतिशय सामर्थ्य, इष्ट देवों की कृपा तथा आत्मदर्शन की योग्यता मन की स्थितियां नहीं है। अतः स्वाभाविक है कि दृष्टियों अर्थात् मनःस्थितियों की चर्चा करते हुए हरिभद्रसूरि इनकी चर्चा नहीं करते। अन्यथा पतञ्जलि-निर्दिष्ट नियम साधना के प्रायः सभी फलों की चर्चा यहाँ समान रूप से हुई है। साथ ही योगीजनों के साथ हृदय संवाद और उन पर पूर्ण विश्वास की चर्चा हरिभद्र सूरि के अनुभव वर्णन में नवीन है। जो उनकी सूक्ष्म दृष्टि और अनुभव की ओर इंगित करती है।

यहाँ एक बात अवश्य विचारणीय है कि हरिभद्र सूरि के अनुसार मित्रा और तारा दृष्टियाँ साधना के मार्ग में चलने वाले योगो के मन की प्राथमिक दो स्थितियाँ हैं जिनकी प्राप्ति उनके अनुसार क्रमशः यम और नियमों के पालन करने से होती है। इससे यह भी लगता है कि हरिभद्र सूरि यम और नियमों को साधना के क्रम में क्रमशः अपनाये जाने वाले दो प्राथमिक सोपान के रूप में स्वीकार करते हैं। जबकि पतञ्जलि इन दोनों का प्रथम निर्देश करते हुए भी इन्हें प्रथम द्वितीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोपान के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार यमों की साधना न तो नियमों के पालन के लिए साधक में योग्यता उत्पन्न करती है, और न वे ऐसा ही संकेत करते हैं कि नियमों के पालन के पूर्व यमों के पालन में सिद्धि अनिवार्य है। और इनमें सिद्धि के बाद ही आसन साधना की जा सकेगी। वस्तुतः वे इन्हें (यमों और नियमों को) योग साधना में अन्त तक आवश्यक मानते हैं। इसी कारण वे हिंसा आदि के मूल में लोभ, मोह और क्रोध का संकेत करके अहिंसा आदि के पालन में इन लोभ आदि की निवृत्ति अनिवार्य मानते हैं, और इनकी पूर्णतया निवृत्ति प्रत्याहार सिद्धि के बाद ही हो सकती है उससे पूर्व नहीं। साथ ही वे नियमों में अन्यतम ईश्वर प्रणिधान को समाधि, अर्थात् चित्त की पूर्ण एकाग्रता के प्रति योग साधना के अन्तिम अंग के प्रति कारण मानते हैं। यह भी स्मरणीय है कि पतञ्जलि आसनों को प्राणायाम के लिए योग्यता प्राप्त करने में, प्राणायाम को धारणा की योग्यता प्राप्त करने में कारण मानते हैं और इस तथ्य का स्पष्ट निर्देश भी "तस्मिन्सति श्वास प्रश्वासयोः गति विच्छेदः प्राणायामः।" ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्, धारणासु च योग्यता मनसः[15]। सूत्रों द्वारा करते हैं। इनके अतिरिक्त वे यह भी स्वीकार करते हैं कि आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये प्रथम तीन धारणा आदि तीन की दृष्टि से बहिरंग है।[16] एक प्रकार से साधना है। तथा धारणा आदि तीन चित्त की एकाग्रता की तीन स्थितियाँ भी निर्बीज समाधि के प्रति बहिरंग है।[17] अर्थात् उनमें भी साध्य साधन भाव है। किन्तु यम नियमों के सम्बन्धों में वे ऐसा संकेत नहीं करते हैं। तीन, तीन के दो वर्ग बनाते हुए अर्थात् प्रथम वर्ग की साधना की स्थूलता एवं द्वितीय वर्ग की साधना की सूक्ष्मता की ओर संकेत करते समय भी वे इन दोनों को किसी वर्ग में सम्मिलित नहीं करते।

साधना के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली मानसिक अभ्युन्नति का तृतीय स्तर बलादृष्टि है। बलादृष्टि का तात्पर्य है मन में दृढ़ता। हरिभद्र सूरि के अनुसार इसकी प्राप्ति आसन साधना से होती है। तत्त्वदर्शन में दृढ़ता, तत्त्वश्रवण की उत्कट अभिलाषा मानसिक, दृढ़ता के फलस्वरूप विक्षेपों का अभाव, लौकिक जीवन के साथ ही पारलौकिक जीवन में भी प्रणिधान, समस्त कर्मफलों का नाश और निर्बाध प्रगति होने से अभ्युदय की प्राप्ति में पूर्ण विश्वास बलादृष्टि की स्थिति में मन में विद्यमान रहते हैं।[18] योगसूत्रकार पतञ्जलि यद्यपि आसन साधना के फलस्वरूप क्षुधा-पिपासा, शीत-ताप आदि द्वन्द्वों से अनभिघात और उसके फलस्वरूप प्राणायाम करने की योग्यता की उपलब्धि को ही आसन साधना का फल स्वीकार करते हैं, किन्तु आसन के अंग के रूप में अनन्त समापत्ति की साधना से प्राप्त द्वन्द्वों से मुक्ति के फलस्वरूप मन में जिस दृढ़ता का उदय होता है। और उसके फलस्वरूप जो प्रणिधान सिद्ध होता है उसके कारण शुभ आध्यात्मिक फलों का सहज भाव से मन में दर्शन मन की एक विशेष स्थिति है जिसका विवरण आचार्य हरिभद्र सूरि के अतिरिक्त किसी आचार्य ने नहीं किया है।

मन की चतुर्थ अभ्युन्नत स्थिति साधना पथ का पूर्वार्ध पार करने पर होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस अवस्था में साधक सामान्य मानव न रहकर असामान्य हो जाता है, अलौकिक भाव को प्राप्त कर लेता है। अतएव वह मानव सामान्य में रहने वाले बोध की अवस्था बुद्धि और ज्ञान के बाद असम्मोह की अवस्था में पहुँच जाता है। असम्मोह को इस अवस्था में ज्ञान के सभी पक्ष ज्ञाता को विदित होते हैं।[19] जैन दर्शन में स्वीकृत सप्तभंगी नय के अनुसार किसी पदार्थ के भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जितने विकल्पात्मक स्वरूप हो सकते हैं, उन सभी स्वरूपों का उसे यथार्थबोध रहता है, फलस्वरूप उसके चित्त में संकल्प की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसी कारण लौकिक जीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यात्रा के क्रम में उसके शरीर द्वारा सम्पन्न होने वाले कर्म संकल्प विकल्प के अभाव में बन्धन के कारण नहीं बनते। और साधक यदि भावातीत अवस्था में विद्यमान है तो वे ही कर्म निर्वाण प्रदान कराने वाले भी हो जाते हैं।

साधक की इस चतुर्थ अवस्था की प्राप्ति प्राणायाम साधना के फलस्वरूप होती है। प्राणायाम साधना के फल के रूप में योगसूत्रकार पतञ्जलि ने यद्यपि प्रकाश के आवरण का क्षय और धारणा की योग्यता का उत्पन्न होना ही स्वीकार किया है, और प्रकाश के आवरण-क्षय होने पर बोध की वह स्थिति स्वीकार की जा सकती है जिसे आचार्य हरिभद्र सूरि ने असम्मोह कहा है। किन्तु इस प्रसंग में दत्तात्रेय योगशास्त्र का वह कथन स्मरणीय है जहाँ प्राणायाम की उत्तर अवस्था केवल कुम्भक के सिद्ध होने पर योगी के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता यह स्वीकार किया गया है[20] साथ ही यह भी माना गया है कि प्राणायाम के सिद्ध होने पर साधक योगी जीवन्मुक्त हो जाता है।[21]

आचार्य हरिभद्र सूरि के अनुसार योगी की पंचम मानसिक अवस्था वह होती है, जब तमोग्रन्थि का भेदन हो जाता है, फलस्वरूप उसकी समस्त चर्याएँ शिशु की क्रीड़ा मात्र रहती हैं, और उसके सभी कर्म धर्मविषयक बाधा को दूर करने वाले ही हुआ करते हैं।[22] इस प्रसंग में श्रीमद्‌भगवद्‌ गीता में योगीराज कृष्ण के धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।"[23] वचन तुलनीय है। मन की इस स्थिति को स्थिरादृष्टि कहा जाता है। और यह हरिभद्र सूरि के अनुसार प्रत्याहार की साधना से प्राप्त होती है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने योगी के मन की छठी स्थिति वह मानी है जब वह अपनी कमनीयता के कारण सर्वजन प्रिय ही नहीं सर्वजन काम्य हो जाता है। असंख्य स्त्रीरत्न भूता कामिनियाँ उसकी कामना करती हैं किन्तु वह स्थितप्रज्ञ माया प्रपंच में न फँसता है न उद्विग्न होता है, बल्कि आप्त काम की भाँति सर्वत्र अनासक्त और निष्काम बना रहता है।[24] दत्तात्रेय के अनुसार केवल कुम्भक की सिद्धि के प्रारम्भावस्था में ही योगी का शरीर कामदेव की भाँति सुन्दर हो जाता है, और उसके रूप पर मोहित होकर कामिनियाँ उसके साथ संगम की कामना करती है।[25] हरिभद्र सूरि ने योगी की इस मनः अवस्था को कान्ता दृष्टि कहा है। उनके अनुसार यह अवस्था धारणा की साधना से प्राप्त होती है।

अष्टांग योग का सातवाँ अंग ध्यान है। इसकी साधना में सफलता मिलने पर हरिभद्रसूरि के अनुसार चित्त में न केवल एकाग्रता आती है बल्कि धर्मध्यान में वह लीन रहने लगता है। तत्वबोध के साथ सत्य में प्रवृत्ति एवं काम पर पूर्ण विजय इस अवस्था में योगी में विद्यमान रहती है अर्थात् कामविषयक भावना और कामनाओं का किंचिन्मात्र भी उदय उस अवस्था में योगी के हृदय में नहीं होता। इसके अतिरिक्त ध्यान के फलस्वरूप अन्तर् आनन्द की अनुभूति और पूर्ण शान्ति की अनुभूति इस अवस्था में होती है। चित्त की इस अवस्था को हरिभद्रसूरि ने प्रभादृष्टि नाम दिया है। इस अवस्था में दिव्य ज्ञान तादात्म्य भाव से चित्त में निरन्तर विद्यमान रहता है इसलिए इसे प्रभादृष्टि नाम दिया गया है।

योगी के मन की सर्वोच्च अवस्था समस्त आसंग से अलग रहकर समाधिनिष्ठ रहने की है। समाधिनिष्ठ होने के कारण इस अवस्था में पहुँचने पर उसे किन्हीं लौकिक आचार के पालन की अपेक्षा नहीं रहती। पूर्वकृतकृत्यता और धर्म संन्यास इस अवस्था की मुख्य विशेषता है। जीवनकाल में यह योगी ज्ञान कैवल्य अवस्था में रहता है अर्थात् अद्वय भाव की अनुभूति उसे सभी काल में बनी रहती है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटी का भेद उसके मानस से पूर्णतः मिट जाता है। इसे ही उपनिषदों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की भाषा में 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप महावाक्य द्वारा प्रगट किया गया है। यह योगी की पूर्ण सिद्धावस्था है। इसे हरिभद्रसूरि ने परा दृष्टि नाम दिया है। इस अवस्था में पहुँचने के बाद योगी की भवव्याधि का क्षय हो जाता है। और वह अपनी इच्छानुसार निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है हेमचन्द्र ने पतञ्जलि निर्दिष्ट साधना सम्बन्धी सिद्धांतों को सम्पूर्णतया स्वीकार किया है किन्तु साथ ही उन्होंने स्थान-स्थान पर जो अपना मौलिक चिन्तन निबद्ध किया है वह साधना के पथ के पथिकों के लिए अपूर्व है।

बारह प्रकाशमय हेमचन्द्र के योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश में ही सम्पूर्णकाल में साधना में रत रहने वाले मुनियों, अंशकालीन साधकों के लिए भी सामान्य जीवन में व्यवहार्य साधना विधि का विवरण दिया है। प्रथम प्रकाश में वर्णित साधना विधियों का विस्तार सम्पूर्ण ग्रन्थ में हुआ है। इनके द्वारा निर्दिष्ट द्वादश व्रतों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पांच अणुव्रत, दिग्विरति, भोगोपभोगमान, अनर्थ दण्ड विरमण तीन गुणव्रत तथा सामायिक, देशावकाशिक, पौषध और अतिथि संभाग चार शिक्षाव्रत गृहस्थों के लिए ही हैं। गुणव्रतों में इन्होंने मदिरा मांस नवनीत मधु उदम्बर आदि के भक्षण का निषेध करते हुए रात्रि भोजन का भी निषेध किया है। गृहस्थों को भी अपनी आध्यात्मिक साधना से कभी विरत नहीं होना चाहिए यह मानकर इन्होंने ब्राह्ममुहूर्त में जागरण से लेकर रात्रि तक की दिनचर्या का भी स्पष्ट वर्णन किया है जिससे वे भी मोक्षपथ के पथिक बने रहें। साधना के क्षेत्र में यह निर्देश सर्वप्रथम आचार्य हेमचन्द्र ने ही दिया है।

सामान्य (मुनि) साधकों के लिए भी आचार्य हेमचन्द्रसूरि का योगशास्त्र अपनी मौलिकता से आज भी सर्वातिशयी बना हुआ है। उनके अनुसार साधक को इन्द्रियजय, कषायजय मनःशुद्धि और रागद्वेषजय के लिए निरंतर प्रयत्न करना चाहिए। एतदर्थ उन्होंने बारह भावनाओं को उद्दीप्त करने की विधियों का विस्तार से वर्णन किया है जो साधना मार्ग की पृष्ठभूमि कही जा सकती है। इस क्रम में उन्होंने समत्वबुद्धि को सर्वाधिक महत्व दिया है। साथ ही आसन, प्राणायाम और ध्यान का विस्तृत वर्णन किया है। यद्यपि उनकी मान्यता है कि साधना के क्रम में प्राणायाम निरर्थक है, कष्टप्रद है, और इसी कारण मुक्ति में बाधक भी है।

आचार्य हेमचंद्र ने ध्यान पर सर्वाधिक बल दिया है। उनके अनुसार ध्यान की साधना से पूर्व साधक को ध्यान, ध्येय और उसके फल को भली जान लेना चाहिए अन्यथा ध्यान साधना में सिद्धि की सम्भावना कम रहेगी। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार ध्येय पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत भेद से मुख्यतः चार प्रकार का होता है। ध्यान साधना के प्रारम्भ में साधक पिण्डस्थ पदस्थ अथवा रूपस्थ तीनों में से किसी ध्येय का ध्यान कर सकता है। किन्तु ध्यान साधना की पूर्णता रूपातीत ध्येय का ध्यान करने में ही है। रूपातीत ध्यान में आज्ञा विचय आदि चार प्रकार का धर्म-ध्यान तथा पृथक्त्व वितर्क आदि चार प्रकार का शुक्ल-ध्यान होता है। इनका विस्तारपूर्वक विवरण आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में दिया है। इस प्रकार हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में साधना के व्यावहारिक पक्ष का विस्तार से वर्णन करके अन्त में त्रिक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट सुलीन इन चित्तभेदों तथा बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा नाम से आत्म-तत्व का दार्शनिक विवेचन भी किया है।

आचार्य हेमचन्द्र के योग विषयक विवेचन की तुलना यदि हम पतञ्जलि से करना चाहे तो हमें विदित होता है कि पतञ्जलि ने योग सूत्रों में साधना पक्ष का संकेत मात्र किया है एवं दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्ष का अत्यन्त गम्भीरता से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्णन किया है, जबकि हेमचंद्रकृत योगशास्त्र में साधना पक्ष का बहुत विस्तार से एवं स्पष्ट विवरण दिया गया है एवं दर्शन पक्ष की भी उपेक्षा नहीं की गई है। इसी प्रसंग में यदि हम आचार्य हरिभद्रसूरि के योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु योगविंशिका और योगशतक के विवेचन को भी सम्मिलित कर लें तो यह निष्कर्ष प्राप्त होगा कि पतञ्जलि की परम्परा में योग साधना शिष्य को गुरु से ही प्राप्त होती रही है, ग्रंथों का अध्ययन उसके दर्शन पक्ष के अध्ययन के लिए ही सम्भवतः होता रहा है। जबकि जैन आचार्यों ने ग्रन्थों में भी उसका निबन्धन करके तथा सामान्य गृहस्थों के लिए एक सीमित मात्रा में उसको अनिवार्य घोषित कर योग साधना को जन सामान्य तक पहुँचाने का महनीय कार्य किया है। और यह उनका योगदान लोक तथा योग विद्या दोनों के लिए एक अविस्मरणीय योगदान मानना चाहिए। ❖

सन्दर्भ

१ अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (१.१२) ईश्वर प्रणिधानाद्वा (१.२३) प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य (१.३४) विषयवती वा प्रवृत्ति रुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धिनी (१.३५) विशोका वा ज्योतिष्मती (१.३६) वीतारागविषयं वा चित्तम् (१.३७)। स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा (१.३८) यथाभिमतध्यानाद्वा (१.३९)। योगसूत्र
२ योगदृष्टि समुच्चय, ३ — ३ योगदृष्टि समुच्चय, ४
४ ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा, श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। —योग सूत्र १·४८-४९
५ योगदृष्टिसमुच्चय ५-८ — ६ योगदृष्टि समुच्चय ११
७ गीता २·५६-५७ — ८ क्षिप्तं मूढंविक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः। योगभाष्य १·१ पृष्ठ १
९ निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा। तज्जः संस्कारोऽन्य संस्कार प्रतिबन्धी। तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। —योग सूत्र १·४७-४८-५०-५१
१० मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कांता प्रभा परा। नामानि योगदृष्टीनां..... —योगदृष्टिसमुच्चय १३
११ यमादि योग युक्तानां खेदादि परिहारतः। अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सताम्मता। —योगदृष्टि समुच्चय १६
१२ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। —यो० सू० २.३५.
१३ मित्रायां दर्शनं मन्दं यम इच्छादिकं तथा। आवेदो देवकार्यादो अद्वेषश्चापरत्र च। —योगदृष्टि समुच्चय २१।
१४ वही० २४-२७. — १५ यो. सू. २·४९, ५२-५३।
१६ तदपि बहिरंग निर्बीजस्य। —यो. सू. ३·८। — १७ त्रयमन्तरंग पूर्वेभ्यः। —यो. सूत्र. ३·७-१।
१८ योगदृष्टि समुच्चय ४९-५६।
१९ असम्मोहसमुत्थानि त्वेकान्तपरिशुद्धितः। निर्वाण फलान्याशु भावातीतार्थ यायिनाम्॥ —वही १२६
२० केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरक वर्जिते। न तस्य दुर्लभं किंचि त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ —दत्तात्रेय योगशास्त्र१४-४०
२१ वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्। —वही २४९
२२ योगदृष्टि समुच्चय १५३-१६१। — २३ भगवद्गीता।
२४ योगदृष्टि समुच्चय १६२-१६९।
२५ कन्दर्पस्य यथारूपं तथा तस्यापि योगिनः। तद्रूपवशगाः नार्यः क्षन्ते तस्य संगमम्॥ —दत्ता० यो० शा० १०५—१६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org